राजीब रंजन एवं अन्य

बनाम

आर. विजयकुमार

(2010 की दांडिक अपील संख्याएँ 729-732)

14 अक्टूबर, 2014

[माननीय न्यायमूर्ति श्री जे. चेलमेश्वर एवं माननीय न्यायमूर्ति श्री ए.के. सीकरी]

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973: धाराएँ 197, 482 – कार्यवाही का निरस्तीकरण – विद्युत मंडल द्वारा निविदा आमंत्रित की गई – अपीलकर्ता संख्या 2, मुख्य अभियंता द्वारा जारी निष्पादन प्रतिवेदन/प्रमाणपत्र प्राप्त करने के पश्चात उत्तरदाता का निविदा आवेदन अस्वीकार किया गया – उत्तरदाता द्वारा अपने आवेदन के अस्वीकार किए जाने को चुनौती देते हुए विद्युत मंडल के विरुद्ध वाद दायर किया गया – वाद वापस ले लिया गया – उत्तरदाता ने विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर की, जिसे भी निरस्त कर दिया गया तथा उसके विरुद्ध विशेष अनुमति याचिका भी निरस्त कर दी गई – इसके पश्चात उत्तरदाता ने अपीलकर्ताओं के विरुद्ध धाराएँ 120ख, 468, 420 तथा 500 के अधीन परिवाद दायर किया, यह आरोप लगाते हुए कि प्रमाणपत्र मिथ्या तथा कूटरचित था – समन जारी किया गया – उच्च न्यायालय ने यह कहते हुए कार्यवाही को निरस्त करने से इंकार कर दिया कि यद्यपि अपीलकर्ता लोक सेवक हैं, तथापि उनके द्वारा कथित अपराध उनके सामान्य कर्तव्यों के निर्वहन में नहीं किए गए थे, अतः धारा 197 लागू नहीं होती – अभिनिर्धारित: निविदा का अस्वीकार किया जाना अपीलकर्ता द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में तथा उसके परिपालन में किया गया था – उत्तरदाता द्वारा दांडिक परिवाद दायर करना सद्भावना में नहीं था और यह विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग एवं अनुचित उपयोग के समान था – अभिलेखों के कूटरचना के आरोप कपटपूर्ण रूप से पश्चातविचार के रूप में केवल एक दीवानी वाद को दांडिक स्वरूप देने के उद्देश्य से लगाए गए थे – उच्च न्यायालय को धारा 482 के अधीन

अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए कार्यवाही को निरस्त कर देना चाहिए था।

अपील स्वीकार करते हुए, न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया:

1. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 यह उपबंधित करती है कि यदि किसी लोक सेवक, जिसे सरकार द्वारा या उसकी स्वीकृति के बिना पद से नहीं हटाया जा सकता, के विरुद्ध किसी अपराध के किए जाने का आरोप लगाया जाता है, तो इस उपबंध में विनिर्दिष्ट सक्षम प्राधिकारी की पूर्व स्वीकृति के बिना न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान लेने से वर्जित रहता है। स्वीकृति आवश्यक होती है यदि लोक सेवक के विरुद्ध आरोपित अपराध उसके द्वारा "अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते हुए या ऐसा करने का आशय व्यक्त करते हुए" किया गया हो। वर्तमान मामले में, निविदा समिति ने इस आधार पर निविदा अस्वीकार कर दी कि उत्तरदाता पूर्व-अर्हता शर्तों को पूर्ण नहीं करता था। ऐसा करने से पूर्व, उत्तरदाता से बार-बार निष्पादन प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए कहा गया, किन्तु उसने आवश्यक कार्य करने का आश्वासन देने के बावजूद इसका पालन नहीं किया। तथापि, उत्तरदाता के दावे का सत्यापन करने तथा उसकी निविदा का गुण-दोष के आधार पर विचार करने के लिए, यद्यपि इसकी कठोर आवश्यकता नहीं थी, अपीलकर्ता को वांछित सूचना प्राप्त करने हेतु झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड से जानकारी लाने के लिए नियुक्त किया गया। उसने झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड के अधिकारियों से भेंट की और यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि उत्तरदाता द्वारा किए गए कार्य संतोषजनक नहीं थे। यहाँ तक कि उक्त विद्युत केंद्र के महाप्रबंधक ने भी अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें यह निष्कर्ष दिया गया कि उत्तरदाता द्वारा प्रदत्त स्कैनिंग प्रणाली में दोषों के कारण उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा तथा उक्त विद्युत मंडल उत्तरदाता द्वारा आपूर्ति किए गए उपकरण से संतुष्ट नहीं था। तकनीकी विशेषज्ञों के प्रतिवेदन भी उत्तरदाता के प्रतिकूल थे, क्योंकि उनमें यह अभिमत व्यक्त किया गया कि तकनीकी परीक्षण तथा तुलनात्मक आंकड़ों के आधार पर उत्तरदाता तकनीकी रूप से उपयुक्त नहीं था। इन तथ्यों के आधार पर उत्तरदाता की निविदा अभिलेख नहीं खोले गए और उसे

वापस कर दिया गया तथा उसे इस संबंध में सूचित भी किया गया। यह समस्त कार्यवाही स्पष्टतः अपीलकर्ता द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में तथा उसके परिपालन में की गई थी। [कंडिका 10, 11, 15] [993-जी-एच; 994-ए; 996-एफ-एच; 997-ए-ई]

2. उत्तरदाता ने एक दीवानी वाद दायर किया, तथापि उसने उक्त वाद को वापस ले लिया। एक बार वाद वापस ले लिए जाने पर, सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 23 नियम 1 के उपबंध को ध्यान में रखते हुए, यह रचनात्मक *पूर्वनिर्णीत* के रूप में कार्य करता है। साथ ही, जब वाद आदेश 9 नियम 8 सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन खारिज किया जाता है, तो आदेश 9 नियम 9 के अधीन नया वाद वर्जित होता है। यहाँ तक कि जब उत्तरदाता ने स्वयं दीवानी वाद में खारिजी का आदेश आमंत्रित किया, तब भी उसने अपने वाद के अनुपालन के अभाव में खारिज किए जाने के आदेश के विरुद्ध विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर की, किन्तु उसे भी उच्च न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया। उत्तरदाता द्वारा प्रस्तुत विशेष अनुमति याचिका भी निरस्त कर दी गई। जब वह उक्त प्रयास में सफल नहीं हुआ, तब उसने कूटरचना के आरोप प्रस्तुत किए। इस प्रकार, उत्तरदाता द्वारा दांडिक परिवाद दायर करने की कार्यवाही सद्भावना में नहीं थी और यह विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग एवं अनुचित उपयोग के समान थी। उत्तरदाता द्वारा एक दीवानी प्रकृति के मामले को दांडिक अभियोजन में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया। उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए कार्यवाही को निरस्त न करके त्रुटि की। [कंडिका 16, 18, 19] [997-एच; 998-ए-एफ; 1000-सी-डी]

शंभू नाथ मिश्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1997) 5 एस.सी.सी. 326 : 1997 (2) एस.सी.आर. 1139; *हरियाणा राज्य बनाम भजन लाल*, 1992 परिशिष्ट (1) एस.सी.सी. 335 : 1991 (1) परिशिष्ट एस.सी.आर. 387; *इंडियन ऑयल कॉर्पोरेशन बनाम एनईपीसी इंडिया लिमिटेड* (2006) 6 एस.सी.सी. 736 : 2006 (3) परिशिष्ट एस.सी.आर. 704; *इन्दर*

मोहन गोस्वामी एवं अन्य बनाम उत्तरांचल राज्य एवं अन्य **(2007) 12 एस.सी.सी. 1 : 2007 (10) एस.सी.आर. 847 – अवलंबित।**

नरेश कुमार मदन बनाम मध्य प्रदेश राज्य **(2007) 4 एस.सी.सी. 766 : 2007 (4) एस.सी.आर. 1040;** *महाराष्ट्र राज्य बनाम डॉ. बुधिकोता सुब्बाराव* **(1993) 2 एस.सी.सी. 567 : 1993 (2) एस.सी.आर. 329 – संदर्भित।**

नज़ीर संदर्भ

2007 (4) एस.सी.आर. 1040	**संदर्भित**	**कंडिका 4**
1993 (2) एस.सी.आर. 329	**संदर्भित**	**कंडिका 5**
1997 (2) एस.सी.आर. 1139	**अवलंबित**	**कंडिका 13**
1991 (1) परिशिष्ट एस.सी.आर. 387	**अवलंबित**	**कंडिका 17**
2006 (3) परिशिष्ट एस.सी.आर. 704	**अवलंबित**	**कंडिका 18**
2007 (10) एस.सी.आर. 847	**अवलंबित**	**कंडिका 19**

दांडिक अपीलीय क्षेत्राधिकार: 2010 की दांडिक अपील संख्याएँ 729-732

मदुरै स्थित मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा दांडिक मूल याचिकाएँ (एमडी) संख्याएँ 9890, 10017, 10027 तथा 10028 वर्ष 2008 में दिनांक 03.06.2009 को पारित निर्णय एवं आदेश से उद्भूत।

राहुल श्रीवास्तव, राम स्वरूप शर्मा, अपीलकर्ताओं के लिए।

आर. विजयकुमार (स्वयं उपस्थित उत्तरदाता)।

न्यायालय का निर्णय **माननीय न्यायमूर्ति श्री ए.के. सीकरी** द्वारा प्रदान किया गया।

1. ये अपीलें चार अपीलकर्ताओं द्वारा दायर की गई हैं, जिन्हें वर्तमान उत्तरदाता

द्वारा न्यायिक दंडाधिकारी संख्या II, तिरुचिरापल्ली, तमिलनाडु के न्यायालय के समक्ष दायर परिवाद वाद संख्या 183/2007 में अभियुक्त व्यक्तियों के रूप में अभिलिखित किया गया था। उक्त परिवाद भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 120-ख, 468, 420 तथा 500 के अधीन दायर किया गया था (संक्षेप में 'भा.दं.सं.')। विद्वान न्यायिक दंडाधिकारी ने उक्त परिवाद का संज्ञान लिया तथा अपीलकर्ताओं को समन जारी किया। अपीलकर्ताओं (जिन्हें अभियुक्त संख्या 3, 4, 5 एवं 6 के रूप में अभिलिखित किया गया था) ने उक्त समन आदेशों को चुनौती दी तथा दंड प्रक्रिया संहिता (संक्षेप में 'दं.प्र.सं.') की धारा 482 के अधीन याचिका दायर कर परिवाद के निरस्तीकरण का निवेदन किया, क्योंकि उनके अनुसार परिवाद में लगाए गए आरोप उपर्युक्त धाराओं के अधीन कोई अपराध स्थापित नहीं करते थे; परिवादी को ऐसा कोई परिवाद दायर करने का न तो कोई स्थानाधिकार था और न ही कोई विधिक स्थिति; अपीलकर्ता छत्तीसगढ़ राज्य सरकार के लोक सेवक एवं राजपत्रित अधिकारी होने के कारण, दं.प्र.सं. की धारा 197 के अनुसार नियुक्तिकर्ता प्राधिकारी की पूर्व स्वीकृति के बिना उनके विरुद्ध ऐसी कोई दांडिक कार्यवाही प्रारंभ नहीं की जा सकती थी; तथा यह परिवाद न्यायालय की प्रक्रिया का स्पष्ट दुरुपयोग एवं अनुचित उपयोग था, जिसे परिवादी द्वारा उन दीवानी उपचारों को समाप्त करने के पश्चात दायर किया गया था, जिनमें वह असफल रहा था। उच्च न्यायालय ने प्रकरण का परीक्षण करने के पश्चात अपीलकर्ताओं द्वारा उठाए गए उपर्युक्त किसी भी तर्क में कोई गुण नहीं पाया और परिणामतः उनकी याचिकाओं को निरस्त कर दिया।

2. अपीलकर्ताओं की प्रस्तुतियों पर विचार करने से पूर्व, जो उच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत तर्कों के प्रतिरूप हैं, यह उपयुक्त होगा कि परिवादी द्वारा उक्त परिवाद दायर किए जाने तक के प्रासंगिक तथ्यों एवं घटनाक्रम का अवलोकन किया जाए। वे निम्नलिखित हैं:

छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत मंडल (संक्षेप में 'सीएसईबी') द्वारा हसदेव तापीय विद्युत केंद्र (कोरबा पश्चिम) में एचईए प्रज्वलन प्रणाली के अभिकल्पन, अभियंत्रण, परीक्षण,

आपूर्ति, स्थापना तथा प्रचालन के कार्य हेतु निविदा आमंत्रण सूचना (एनआईटी) संख्या टी-136/2004 दिनांक 02.06.2004 जारी की गई। इसके अंतर्गत प्राप्त आवेदनों को क्रमशः तीन चरणों में संसाधित किया जाना था, अर्थात् भाग-1 (ईएमओ), भाग-2 (प्राविधिक-वाणिज्यिक मानदंड) तथा भाग-3 (मूल्य निविदा)। वर्तमान उत्तरदाता ने मेसर्स कंट्रोल इलेक्ट्रॉनिक्स इंडिया (सीईआई) के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप में दिनांक 26.08.2004 को निविदा अभिलेख के लिए आवेदन प्रस्तुत किया। उक्त आवेदन इस आधार पर अस्वीकार कर दिया गया कि इसके साथ अपूर्ण अभिलेख संलग्न थे, अर्थात् उत्तरदाता के पूर्व निष्पादन एवं अनुभव के संबंध में अभिलेखी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किए गए थे। उत्तरदाता ने दिनांक 06.09.2004 को अपीलकर्ता संख्या 3 के विरुद्ध यह आरोप लगाते हुए शिकायत की कि उसे निविदा अभिलेख प्रदान नहीं किए गए। इसके पश्चात निविदा अभिलेख जारी करने हेतु कई पत्र प्रेषित किए गए। उसे सूचित किया गया कि अपीलकर्ताओं अथवा अन्य अधिकारियों पर दबाव डालने के स्थान पर वह निविदा की पूर्व-अर्हता शर्तों के अनुसार अभिलेख प्रस्तुत करे। इसके प्रत्युत्तर में, अपने दिनांक 05.11.2004 के पत्र द्वारा, उत्तरदाता ने झारखंड राज्य विद्युत मंडल (संक्षेप में 'जेएसईबी') द्वारा दिनांक 28.01.2002 को जारी क्रय आदेश की प्रति प्रस्तुत की तथा यह आश्वासन दिया कि अन्य अभिलेखी साक्ष्य (निष्पादन प्रतिवेदन) बाद में प्रस्तुत करेगा। उक्त आश्वासन के आधार पर उत्तरदाता को निविदा अभिलेख प्रदान कर दिए गए। उत्तरदाता ने अपने दिनांक 08.12.2004 के पत्र द्वारा यह उल्लेख किया कि निष्पादन प्रतिवेदन भाग-2 में संलग्न है। तथापि, उक्त प्रतिवेदन संलग्न नहीं पाया गया और छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड द्वारा बार-बार अभिलेख प्रस्तुत करने के अनुरोध के बावजूद, उत्तरदाता ने आवश्यक शर्तों की पूर्ति नहीं की। चूँकि उत्तरदाता ने आवश्यक अभिलेख प्रस्तुत नहीं किए, अतः छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड ने दिनांक 10.12.2004 के पत्र द्वारा झारखंड राज्य विद्युत मंडल के मुख्य अभियंता (जिसे परिवाद में अभियुक्त संख्या 2 के रूप में अभिलिखित किया गया है) से उत्तरदाता के निष्पादन के संबंध में जानकारी प्राप्त करने का अनुरोध किया।

वर्तमान अपीलकर्ता संख्या 2 को भी वांछित जानकारी प्राप्त करने हेतु झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड भेजा गया। झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड के अधिकारियों से भेंट करने के पश्चात, अपीलकर्ता संख्या 2 ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें यह उल्लेख किया गया कि उत्तरदाता द्वारा किए गए कार्य संतोषजनक नहीं थे, क्योंकि उनमें अनेक दोष पाए गए। अपीलकर्ताओं के अनुसार, एसई (ईटी एंड आई) केडब्ल्यू (सीएसईबी) से तकनीकी विशेषज्ञता भी प्राप्त की गई और दिनांक 04.02.2005 के पत्र के आधार पर यह पाया गया कि तकनीकी परीक्षण तथा तुलनात्मक आंकड़ों के अनुसार उत्तरदाता तकनीकी रूप से उपयुक्त नहीं था। उक्त आधार पर उत्तरदाता की निविदा अस्वीकार कर दी गई। अपीलकर्ताओं का कथन है कि अपनी निविदा अपने पक्ष में स्वीकृत न होने के कारण उत्पन्न आक्रोशवश, उत्तरदाता ने राज्य सरकार सहित विभिन्न मंचों के समक्ष अनियमितताओं के आरोप लगाते हुए शिकायतें कीं, जिसके परिणामस्वरूप राज्य सरकार ने छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड को जांच करने का निर्देश दिया। छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड ने दिनांक 21.02.2006 को अपनी प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए यह अभिव्यक्त किया कि कोई भी ऐसी अनियमितता नहीं थी तथा उत्तरदाता ने बार-बार अनुरोध किए जाने के बावजूद आवश्यक अभिलेख प्रस्तुत नहीं किए थे। इस चरण पर, उत्तरदाता ने छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड के विरुद्ध असैनिक न्यायाधीश वर्ग-II, कोरबा के समक्ष दीवानी वाद (26-ए/06) दायर किया। तथापि, उत्तरदाता ने उक्त वाद को वापस लेने हेतु आवेदन प्रस्तुत किया। किसी भी स्थिति में, वह नियत तिथि पर उपस्थित नहीं हुआ और परिणामतः दिनांक 12.09.2006 को वाद अनुपस्थिति के कारण खारिज कर दिया गया। तत्पश्चात, वर्तमान उत्तरदाता ने छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय के समक्ष विनिर्दिष्ट आदेश याचिका संख्या 2951 वर्ष 2006 दायर की, जिसे दिनांक 25.06.2007 को निरस्त कर दिया गया। विनिर्दिष्ट आदेश याचिका को निरस्त करते समय यह अभिलिखित करते हुए कि यह न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग है, रुपये 25,000/- की लागत भी आरोपित की गई। इसके पश्चात उत्तरदाता द्वारा विशेष अनुमति याचिका संख्या 15897 वर्ष 2007 प्रस्तुत

की गई, जिसे भी दिनांक 14.09.2007 के आदेश द्वारा निरस्त कर दिया गया। इन सभी उपायों के समाप्त हो जाने के पश्चात, यद्यपि वह असफल रहा, उत्तरदाता ने तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली स्थित के.के. नगर थाना में परिवाद प्रस्तुत किया। पुलिस अधिकारियों ने इसे इस आधार पर अभिलेखित करने से इंकार कर दिया कि यह एक दीवानी विवाद है। इसके पश्चात ही उत्तरदाता ने विचारण न्यायालय के समक्ष भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 120-ख, 468, 420 एवं 500 के अधीन उक्त दांडिक परिवाद दायर किया, जिसे सी.सी. संख्या 183/07 के रूप में पंजीकृत किया गया और विचारण न्यायालय ने वर्तमान अपीलकर्ताओं तथा अभियुक्त संख्या 1 (सफल निविदाकार) एवं अभियुक्त संख्या 2 (तत्कालीन मुख्य अभियंता, झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड) को समन जारी किए। उक्त परिवाद के निरस्तीकरण के लिए अपीलकर्ताओं द्वारा दायर याचिकाएँ उच्च न्यायालय के आदेश द्वारा निरस्त कर दी गईं, जो वर्तमान में हमारे समक्ष चुनौती के अधीन है।

3. उक्त परिवाद के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि उत्तरदाता द्वारा निम्नलिखित व्यापक आरोप लगाए गए हैं:

(क) उत्तरदाता/परिवादी का आरोप है कि अपीलकर्ताओं तथा अभियुक्त संख्या 1 (सफल निविदाकार) एवं अभियुक्त संख्या 2 (तत्कालीन मुख्य अभियंता, झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड) ने गुप्त रूप से षड्यंत्र करके परिवादी की कंपनी को अयोग्य ठहराने के लिए उसकी साख को क्षति पहुँचाने का प्रयास किया और उक्त उद्देश्य से वे निरंतर संपर्क में रहे, ताकि उक्त निष्पादन प्रतिवेदन सह प्रमाणपत्र तैयार किया जा सके, जो अभियुक्त संख्या 2 द्वारा जारी किया गया।

(ख) उत्तरदाता/परिवादी का आरोप है कि उक्त षड्यंत्र की शुरुआत अभियुक्त संख्या 1 तथा वर्तमान अपीलकर्ताओं के मध्य किए गए एक समझौते से हुई और उन्होंने दिनांक 28.12.2004 के उक्त प्रमाणपत्र को

कूटरचित करने की योजना बनाई। इस उद्देश्य से अभियुक्त संख्या 2 से संपर्क किया गया, ताकि वह ऐसा प्रमाणपत्र तैयार करे जो पत्रातु तापीय विद्युत केंद्र (संक्षेप में 'पीटीपीएस') तथा झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड के साथ आपूर्ति एवं सेवा संबंधों के संदर्भ में परिवादी की कंपनी (सीईआई) को पूर्णतः अविश्वसनीय सिद्ध करे।

(ग) उत्तरदाता/परिवादी का आरोप है कि उक्त प्रमाणपत्र सह प्रतिवेदन मिथ्या, कूटरचित, प्रेरित तथा दुर्भावनापूर्ण है और यह उन बैठकों की कार्यवाही के प्रतिकूल है जो परिवादी तथा उसके अधिकारियों ने पीटीपीएस एवं झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड के अधिकारियों के साथ की थीं। वह आगे यह भी आरोप लगाता है कि उक्त कारणों से अभियुक्त संख्या 2 को उसके पद से पदावनत किया गया।

(घ) उत्तरदाता/परिवादी का आरोप है कि उक्त प्रमाणपत्र सह प्रतिवेदन के संबंध में संदेह होने पर वह छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड गया और उसके सत्यापन के पश्चात उसे यह ज्ञात हुआ कि उक्त निविदा परिवादी की कंपनी के स्थान पर अभियुक्त संख्या 1 की कंपनी को दी जा रही है, अतः उसने ऐसे प्रमाणपत्र के सत्यापन एवं निरस्तीकरण हेतु मुख्य सचिव तथा झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड के अध्यक्ष को पत्र लिखा। उसने छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड के अनेक अधिकारियों को भी पत्र लिखे।

(ङ) उत्तरदाता/परिवादी का आरोप है कि उक्त प्रमाणपत्र स्वयं में ही परिवादी की कंपनी के विरुद्ध मानहानिकारक है और यह परिवादी की कंपनी की छवि को धूमिल करके अभियुक्त संख्या 1 को लाभ पहुँचाने का एक भद्दा प्रयास है। वह आगे यह भी आरोप करता है कि इससे परिवादी

की कंपनी को कोरबा स्थित बॉयलर संयंत्र इकाइयों के लिए अनुबंध प्राप्त करने के उसके उचित अवसर से वंचित करके अनुचित हानि हुई।

4. प्रारंभिक साक्ष्य अभिलेखित किए जाने के पश्चात दंडाधिकारी ने परिवाद का संज्ञान लिया, जिसके आदेश को उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। उच्च न्यायालय के समक्ष अपीलकर्ताओं ने, *अन्य बातों के साथ*, यह प्रतिपादित किया कि उत्तरदाता द्वारा भा.दं.सं. की धाराएँ 120-ख, 468, 420 एवं 500 के अधीन लगाए गए आरोप, अभियुक्त संख्या 1 के पक्ष में निविदा प्रदान किए जाने से संबंधित थे, जिसमें उत्तरदाता भी एक प्रतिस्पर्धी पक्ष था। यह भी अभिव्यक्त किया गया कि उक्त परिवाद एक पश्चातविचार के रूप में दायर किया गया है, क्योंकि उत्तरदाता निषेधाज्ञा हेतु दायर दीवानी वाद में असफल रहा था, जो खारिज कर दिया गया था, तथा इसी प्रकार अभियुक्त संख्या 1 के पक्ष में अनुबंध प्रदान किए जाने को चुनौती देने के उसके प्रयास में भी असफल रहा, क्योंकि उसकी विनिर्दिष्ट आदेश याचिका उच्च न्यायालय द्वारा निरस्त कर दी गई थी। इस प्रकार, न्यायिक दंडाधिकारी-II, तिरुचिरापल्ली के समक्ष परिवाद दायर किया जाना मात्र विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग था। अपीलकर्ताओं ने यह भी प्रतिपादित किया कि वर्तमान उत्तरदाता को उक्त परिवाद प्रस्तुत करने का कोई स्थानाधिकार अथवा कोई विधिक स्थिति प्राप्त नहीं थी, क्योंकि सीईआई कोई पंजीकृत कंपनी नहीं है, जिसकी पृथक विधिक इकाई हो। अपीलकर्ताओं ने आगे *नरेश कुमार मदन बनाम मध्य प्रदेश राज्य*, (2007) 4 एस.सी.सी. 766 पर अवलंब किया, जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि विद्युत मंडल में कार्यरत कर्मचारी 'लोक सेवक' की परिभाषा के अंतर्गत आते हैं, तथा *महाराष्ट्र राज्य बनाम डॉ. बुधिकोता सुब्बाराव*, (1993) 2 एस.सी.सी. 567 पर इस प्रतिपादन के लिए अवलंब किया कि दं.प्र.सं. की धारा 197 के अधीन किसी लोक सेवक के अभियोजन हेतु सक्षम प्राधिकारी की स्वीकृति के अभाव में कार्यवाही दूषित हो जाती है।

5. उत्तरदाता ने उपर्युक्त प्रस्तुतियों का खंडन करते हुए यह तर्क दिया कि

वर्तमान अपीलकर्ताओं ने जानबूझकर षड्यंत्र किया और परिवादी के विरुद्ध अपराध किए, अतः उसे यह अधिकार है कि वह अपीलकर्ताओं के साथ-साथ अभियुक्त संख्या 2 (मुख्य अभियंता, झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड) के विरुद्ध परिवाद दायर करे, जिन्होंने परिवादी द्वारा प्रस्तुत निविदा को अस्वीकार करते हुए अभियुक्त संख्या 1 की निविदा को स्वीकार करने के उद्देश्य से कार्य किया। यह तर्क दिया गया कि उन्होंने षड्यंत्र कर परिवादी के दावे को अस्वीकार करने के उद्देश्य से मिथ्या अभिलेख का निर्माण किया। उत्तरदाता ने आगे यह भी प्रतिपादित किया कि परिवादी की कंपनी के रूप में उसका स्थानाधिकार पूर्ववर्ती कार्यवाहियों में छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय के समक्ष प्रश्नगत नहीं किया गया था तथा न्यायिक दंडाधिकारी ने अपने न्यायिक विवेक का प्रयोग करते हुए यह संतुष्टि प्राप्त करने के पश्चात कि परिवादी/उत्तरदाता को उक्त परिवाद दायर करने की विधिक स्थिति प्राप्त है, अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा किए गए अपराधों का संज्ञान लिया। यह भी प्रतिपादित किया गया कि वर्तमान परिवाद के संदर्भ में दं.प्र.सं. की धारा 197 के अधीन स्वीकृति प्राप्त करने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अभियुक्तों पर षड्यंत्र, छल, आपराधिक न्यासभंग तथा मानहानि के आरोप लगाए गए हैं। उसने आगे यह भी प्रस्तुत किया कि उसके परिवाद में लगाए गए आरोप दिनांक 28.12.2004 के प्रमाणपत्र सह प्रतिवेदन के कूटरचन से संबंधित हैं, जिसका उपयोग उसकी निविदा को अस्वीकार करने में उसके विरुद्ध किया गया तथा अभियुक्त संख्या 1 को कार्य प्रदान करने में अनुग्रहित किया गया। अतः उन्होंने परिवादी के विरुद्ध अपराध किए और उत्तरदाता/परिवादी की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाई।

6. उच्च न्यायालय ने अपीलकर्ताओं की याचिका निरस्त करते हुए अभिलिखित किया कि:

(क) जहाँ तक दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अनिवार्य उपबंधों का संबंध है, उच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि अपीलकर्ता 'लोक सेवक' हैं। यह भी अभिलिखित किया गया कि यदि भा.दं.सं. की

धाराएँ 120-ख, 468, 420 एवं 500 के अधीन अपीलकर्ताओं के विरुद्ध लगाए गए आरोप उनके कर्तव्यों के निर्वहन से संबंधित हैं, अर्थात् यदि उक्त कृत्यों का उनके कर्तव्यों के निर्वहन से युक्तिसंगत संबंध है, तो धारा 197 की प्रयोज्यता पर विवाद नहीं किया जा सकता। तथापि, परिवाद में लगाए गए आरोपों का परीक्षण करने पर, उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यद्यपि अपीलकर्ता 'लोक सेवक' हैं, तथापि उनके द्वारा कथित रूप से किए गए अपराध संज्ञेय अपराध हैं और वे उनके सामान्य कर्तव्यों के निर्वहन में नहीं किए गए हैं, जिनमें आपराधिक न्यासभंग का तत्व एक अवयव के रूप में विद्यमान है, और इस कारण दं.प्र.सं. की धारा 197 के उपबंध लागू नहीं होते हैं।

(ख) यह भी अभिलिखित किया गया कि परिवाद में लगाए गए आरोपों के संबंध में साक्ष्य का अभिलेखन किया जाना आवश्यक है और उन पर विचार विचारण न्यायालय द्वारा तभी किया जा सकता है जब परिवादी द्वारा साक्ष्य प्रस्तुत किए जाएँ। इसके पश्चात ही अधीनस्थ न्यायालय यह निर्णय कर सकता है कि प्रमाणपत्र की मिथ्यता तथा अभियुक्त संख्या 2 और वर्तमान अपीलकर्ताओं के साथ कथित षड्यंत्र के संबंध में लगाए गए आरोप सही हैं या नहीं।

7. उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि विचारार्थ मुख्यतः दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं, अर्थात्:

(क) क्या अपीलकर्ताओं, जो निर्विवाद रूप से लोक सेवक हैं, के अभियोजन हेतु सक्षम प्राधिकारी की पूर्व स्वीकृति दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन अनिवार्य है?

(ख) क्या, इस प्रकरण के तथ्यों के आधार पर, उत्तरदाता द्वारा दायर परिवाद प्रेरित तथा पश्चातविचार स्वरूप है, जो दीवानी वाद में पराजय के पश्चात प्रस्तुत किया गया है और क्या यह विधि का दुरुपयोग तथा प्रक्रिया का दुरुपयोग है?

हम यह उल्लेख करना चाहेंगे कि इस प्रकरण के तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए ये दोनों प्रश्न परस्पर संबद्ध हैं और इनके वर्णन परस्पर आच्छादित होंगे, जैसा कि आगे की चर्चा में स्पष्ट हो जाएगा।

8. इस उद्देश्य के लिए, हम सर्वप्रथम यह इंगित करना चाहेंगे कि उच्च न्यायालय ने स्वयं इस न्यायालय के *नरेश कुमार मदन* (उपरोक्त) के निर्णय का संज्ञान लिया है, यह अभिनिर्धारित करने हेतु कि अपीलकर्ता भा.दं.सं. की धारा 21 के अर्थ में 'लोक सेवक' की परिभाषा के अंतर्गत आते हैं। वहाँ से निम्नलिखित अभिलक्षण उद्धृत किए गए हैं:

> "राज्य विद्युत मंडल के अधिकारियों को लोक कार्यों का निर्वहन करना होता है। वे लोक प्राधिकरण हैं। उनकी कार्यवाही किसी न किसी रूप में विद्युत ऊर्जा के उपभोक्ताओं पर दीवानी अथवा प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न कर सकती है। वे किसी व्यक्ति के विरुद्ध अभियोजन चला सकते हैं। उन्हें मंडल के उपभोक्ताओं के घरों में प्रवेश करने का भी अधिकार है। इन शक्तियों के उचित एवं प्रभावी प्रयोग के लिए ही विधि यह उपबंध करती है कि ऐसे कर्मचारी लोक सेवक होंगे, जिसके परिणामस्वरूप एक विधिक कल्पना उनके पक्ष में निर्मित की गई है, जब वे अधिनियम के किसी उपबंध के अनुपालन में कार्य करते हैं या ऐसा करने का आशय व्यक्त करते हैं, भा.दं.सं. की धारा 21 के अर्थ में। भारतीय दंड संहिता विभिन्न व्यक्तियों को लोक सेवक के रूप में निरूपित करती है, तथापि यह पूर्ण नहीं है। कोई व्यक्ति किसी अन्य अधिनियम के अंतर्गत भी लोक सेवक हो सकता है। तथापि, यह उल्लेखनीय है कि कोई व्यक्ति, अन्य बातों के

साथ, यदि वह किसी ऐसे निकाय की सेवा में है या उसके वेतन पर है जो किसी केंद्रीय, प्रांतीय अथवा राज्य अधिनियम द्वारा या उसके अधीन स्थापित किया गया है, तो वह भी इसके दायरे में आएगा। भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 2(1)(ग) भी ऐसे व्यक्ति को, जो किसी केंद्रीय अधिनियम द्वारा या उसके अधीन स्थापित निगम की सेवा में है या उसके वेतन पर है, अपने परिधि में सम्मिलित करती है।"

9. प्रश्न दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 की प्रयोज्यता का है। वह उपबंध, जिससे हम संबंधित हैं, निम्नलिखित रूप में पुनरुत्पादित किया जाता है:

"न्यायाधीशों तथा लोक सेवकों का अभियोजन (1) जब कोई व्यक्ति, जो न्यायाधीश या दंडाधिकारी है या रहा है अथवा ऐसा लोक सेवक है जिसे सरकार की स्वीकृति के बिना या उसके द्वारा पद से नहीं हटाया जा सकता, उसके विरुद्ध ऐसा कोई अपराध आरोपित किया जाता है जो उसके द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते हुए या ऐसा करने का आशय व्यक्त करते हुए किया गया हो, तो किसी न्यायालय द्वारा ऐसे अपराध का संज्ञान पूर्व स्वीकृति के बिना नहीं लिया जाएगा—

(क) "ऐसे व्यक्ति के मामले में, जो नियोजित है, अथवा जैसा कि मामला हो, कथित अपराध के किए जाने के समय संघ के कार्यों से संबंधित सेवा में नियोजित था, केंद्रीय सरकार की—"

(ख) "ऐसे व्यक्ति के मामले में, जो नियोजित है, अथवा जैसा कि मामला हो, कथित अपराध के किए जाने के समय किसी राज्य के कार्यों से संबंधित सेवा में नियोजित था, राज्य सरकार की।"

10. यह उपबंध स्पष्ट करता है कि यदि किसी ऐसे लोक सेवक के विरुद्ध, जिसे सरकार की स्वीकृति के बिना या उसके द्वारा पद से नहीं हटाया जा सकता, किसी अपराध के

किए जाने का आरोप लगाया जाता है, तो इस उपबंध में विनिर्दिष्ट सक्षम प्राधिकारी की पूर्व स्वीकृति के बिना न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान लेने से वर्जित रहता है।

11. तथापि, स्वीकृति आवश्यक होती है यदि लोक सेवक के विरुद्ध आरोपित अपराध उसके द्वारा "अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते हुए या ऐसा करने का आशय व्यक्त करते हुए" किया गया हो। यह निर्धारित करने के लिए कि कथित अपराध उसके द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य करते हुए या ऐसा करने का आशय व्यक्त करते हुए किया गया है या नहीं, इस न्यायालय द्वारा *डॉ. बुधिकोता सुब्बाराव* (उपरोक्त) में निम्नलिखित मानदंड निर्धारित किया गया है:

> "यदि तथ्यों के आधार पर प्रथम दृष्ट्या यह पाया जाता है कि जिस कृत्य या लोप के लिए अभियुक्त पर आरोप लगाया गया है, उसका उसके कर्तव्यों के निर्वहन से युक्तिसंगत संबंध था, तो उसे आधिकारिक माना जाएगा, जिस पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 की प्रयोज्यता विवादित नहीं की जा सकती।"

12. इस सिद्धांत का कुछ और विस्तार से स्पष्टीकरण इस न्यायालय द्वारा *रघुनाथ अनंत गोविलकर बनाम महाराष्ट्र राज्य* के प्रकरण में किया गया, जिसका निर्णय दिनांक 08.02.2008 को विशेष अनुमति याचिका (दांडिक) संख्या 5453 वर्ष 2007 में किया गया, निम्नलिखित प्रकार से:

> "दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 की प्रयोज्यता के प्रश्न पर, इस न्यायालय द्वारा दो प्रकरणों, अर्थात् श्रीकांतैया रामैया मुनिपल्ली बनाम बंबई राज्य तथा अमरीक सिंह बनाम पेप्सू राज्य में प्रतिपादित सिद्धांत निम्नलिखित है:
>
> यह आवश्यक नहीं है कि लोक सेवक द्वारा किए गए प्रत्येक अपराध के लिए दं.प्र.सं. की धारा 197(1) के अधीन अभियोजन हेतु स्वीकृति अपेक्षित हो; न ही यह कि उसके द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के वास्तविक निर्वहन के

दौरान किए गए प्रत्येक कृत्य के लिए स्वीकृति आवश्यक हो; किन्तु यदि आरोपित कृत्य उसके आधिकारिक कर्तव्यों से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है, इस प्रकार कि यदि उस पर प्रश्न उठाया जाए तो यह दावा किया जा सके कि वह कृत्य पद के अधिकार से किया गया था, तब स्वीकृति आवश्यक होगी।"

अतः वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान मामले में जिन कृत्यों की शिकायत की गई है, वे तीनों लोक सेवकों के आधिकारिक कर्तव्यों से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित थे। जहाँ तक भारतीय दंड संहिता की धाराएँ 120-ख सहपठित धारा 409 के अधीन दंडनीय आपराधिक षड्यंत्र के अपराध तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की धारा 5(2) का संबंध है, उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 में वर्णित प्रकृति का नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में, किसी लोक सेवक के आधिकारिक कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए आपराधिक षड्यंत्र में सम्मिलित होना या आपराधिक दुराचार में लिप्त होना उसके कर्तव्यों का भाग नहीं है। अतः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के अधीन स्वीकृति का अभाव कोई अवरोध नहीं है।"

13. इसी प्रकार, *शंभू नाथ मिश्र बनाम उत्तर प्रदेश राज्य एवं अन्य*, (1997) 5 एस.सी.सी. 326 में, न्यायालय ने इस विषय पर निम्नलिखित प्रकार से विचार किया:

"5. प्रश्न यह है कि जब किसी लोक सेवक के विरुद्ध अभिलेखों की कूटरचना या लोक निधि के दुरुपयोग आदि का अपराध करने का आरोप लगाया जाता है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि उसने अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य किया है? किसी लोक सेवक का आधिकारिक कर्तव्य यह नहीं है कि वह अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में या उसके परिपालन में मिथ्या अभिलेख तैयार करे या लोक निधि का दुरुपयोग करे। उसकी आधिकारिक स्थिति मात्र उसे अभिलेखों की कूटरचना करने या लोक निधि का दुरुपयोग करने में सक्षम बनाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह उसी लेन-

देन के दौरान किए गए अपराध के साथ अभिन्न रूप से संबंधित या अविभाज्य रूप से अंतर्संबद्ध है, जैसा कि विद्वान न्यायाधीश द्वारा माना गया था। इन परिस्थितियों में, हम इस मत के हैं कि स्वीकृति के प्रश्न पर उच्च न्यायालय तथा विचारण न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिकोण स्पष्टतः अवैध है और उसे बनाए नहीं रखा जा सकता।"

14. उपर्युक्त प्रकरणों का जो आधारभूत सिद्धांत स्पष्ट रूप से प्रतिपन्न होता है, वह यह है कि यदि कोई लोक सेवक अपने आधिकारिक कर्तव्यों का निर्वहन करते हुए भी आपराधिक षड्यंत्र में प्रविष्ट होता है या आपराधिक दुराचार में लिप्त होता है, तो उसके द्वारा किया गया ऐसा कदाचार उसके आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में किया गया कृत्य नहीं माना जाएगा और अतः दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 197 के उपबंध लागू नहीं होंगे। वस्तुतः, उच्च न्यायालय ने अपीलकर्ता द्वारा दायर याचिकाओं को इन्हीं अभिलक्षणों के आधार पर निरस्त किया है, अर्थात् आरोप मिथ्या अभिलेखों के निर्माण से संबंधित हैं, जिन्हें अपीलकर्ताओं के सामान्य आधिकारिक कर्तव्यों का भाग नहीं माना जा सकता। इस प्रकार, उच्च न्यायालय ने विधि के सिद्धांत को सही रूप में प्रतिपादित किया है। अब एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान मामले के तथ्यों पर उक्त सिद्धांत का सही अनुप्रयोग किया गया है। यदि परिवाद में किए गए आरोपों को पृथक रूप से देखा जाए, तो संभवतः उच्च न्यायालय द्वारा कही गई बात उचित प्रतीत हो सकती है। तथापि, जिन परिस्थितियों में यह परिवाद दायर किया गया, उनका कुछ अधिक गहन परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या अभिलेखों के निर्माण का आरोप स्पष्टतः एक पश्चातविचार है और यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरदाता ने ऐसा मनगढ़ंत आरोप केवल इस उद्देश्य से लगाया है कि संपूर्ण विवाद, जो अन्यथा दीवानी प्रकृति का था, उसे दांडिक स्वरूप प्रदान किया जा सके। जैसा कि पूर्व में अभिलिखित है, उत्तरदाता ने वास्तव में अनुबंध प्रदान किए जाने के विरुद्ध निषेधाज्ञा हेतु दीवानी वाद के रूप में दीवानी कार्यवाही प्रारंभ की थी, जिसमें वह असफल रहा। दीवानी

न्यायालय के आदेश को उच्च न्यायालय में विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर कर चुनौती दी गई। उत्तरदाता का अभिवचन यह था कि उसके निविदा को अस्वीकार करना तथा अभियुक्त संख्या 1 को अनुबंध प्रदान करना अवैध एवं प्रेरित था। विनिर्दिष्ट आदेश याचिका भी लागत सहित निरस्त कर दी गई। ये आदेश अंतिम रूप प्राप्त कर चुके। इसके पश्चात ही दांडिक परिवाद दायर किया गया, जिसमें यह आरोप लगाया गया कि दिनांक 28.12.2004 का मिथ्या प्रमाणपत्र तैयार कर अभियुक्त संख्या 1 को अनुग्रहित किया गया। हम इस चर्चा का आगे विस्तार से विश्लेषण करेंगे।"

15. जैसा कि पूर्व में अभिलिखित किया जा चुका है, छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड द्वारा निविदा आमंत्रित की गई थी और वर्तमान प्रकरण में सीईआई उन पक्षकारों में से एक था, जिसने उत्तरदाता के माध्यम से अपनी निविदा प्रस्तुत की थी। तथापि, निविदा की शर्तों में कुछ निश्चित शर्तें विनिर्दिष्ट थीं और निविदा प्रस्तुत करने तथा उस पर विचार किए जाने के लिए उन शर्तों की पूर्ति करना आवश्यक था। अपीलकर्ताओं के अनुसार, उत्तरदाता की निविदा इस आधार पर अस्वीकार कर दी गई कि पत्रातु तापीय विद्युत केंद्र, पत्रातु, झारखंड में उत्तरदाता द्वारा स्थापित संयंत्र एवं उपकरण संतोषजनक रूप से कार्य नहीं कर रहे थे। यह सूचना निविदा समिति को झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड से प्राप्त हुई थी। जब दिसंबर, 2004 में छत्तीसगढ़ राज्य विद्युत् बोर्ड द्वारा प्रतिवेदन मांगा गया, तब निविदा समिति ने यह मत व्यक्त किया कि उत्तरदाता पूर्व-अर्हता शर्तों की पूर्ति नहीं करता है और उसकी निविदा अस्वीकार कर दी। ऐसा करने से पूर्व, उत्तरदाता से बार-बार निष्पादन प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए कहा गया, जिसका उसने आश्वासन दिया था, किन्तु आवश्यक कार्य करने का आश्वासन देने के बावजूद उसने इसका पालन नहीं किया। वास्तव में, वही कारण उत्तरदाता की निविदा को अस्वीकार करने के लिए पर्याप्त था, क्योंकि वह निविदा शर्तों के अनुरूप नहीं थी। तथापि, उत्तरदाता के दावे का सत्यापन करने तथा उसकी निविदा पर गुण-दोष के आधार पर विचार करने के उद्देश्य से, यद्यपि इसकी कठोर आवश्यकता नहीं थी, अपीलकर्ता

आर.सी. जैन को झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड से आवश्यक जानकारी प्राप्त करने हेतु भेजा गया। उन्होंने झारखण्ड राज्य विद्युत् बोर्ड के अधिकारियों से भेंट की और यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि पत्रातु तापीय विद्युत केंद्र में उत्तरदाता द्वारा किए गए कार्य संतोषजनक नहीं थे। यहाँ तक कि उक्त विद्युत केंद्र के महाप्रबंधक श्री बी.एम. राम ने भी अपना दिनांक 28.12.2004 का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया, जिसमें यह निष्कर्ष दिया गया कि उत्तरदाता द्वारा प्रदत्त स्कैनिंग प्रणाली में दोषों के कारण उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था और उक्त विद्युत मंडल उत्तरदाता द्वारा आपूर्ति किए गए उपकरण से संतुष्ट नहीं था। उपर्युक्त सामग्री के होते हुए भी, निविदा समिति ने सावधानीपूर्वक कार्य करते हुए तकनीकी विशेषज्ञता भी प्राप्त की। तकनीकी विशेषज्ञों का प्रतिवेदन भी उत्तरदाता के प्रतिकूल था, क्योंकि उसमें यह अभिमत व्यक्त किया गया कि तकनीकी परीक्षण तथा तुलनात्मक आंकड़ों के आधार पर उत्तरदाता तकनीकी रूप से उपयुक्त नहीं था। उपर्युक्त सामग्री के आधार पर, उत्तरदाता के निविदा अभिलेख को खोला नहीं गया और उसे वापस कर दिया गया तथा उसे इस संबंध में सूचित भी किया गया। यह समस्त कार्यवाही स्पष्ट रूप से अपीलकर्ता द्वारा अपने आधिकारिक कर्तव्यों के निर्वहन में तथा उसके परिपालन में की गई थी। वर्तमान मामले के तथ्यों में, हम इस मत के हैं कि अभिलेखों की कूटरचना के आरोप कपटपूर्ण रूप से पश्चातविचार के रूप में लगाए गए हैं, केवल इस उद्देश्य से कि एक दीवानी मामले को दांडिक स्वरूप प्रदान किया जा सके।

16. जैसा कि पूर्व में अभिलिखित है, उत्तरदाता ने विद्युत मंडल द्वारा उसकी निविदा अभिलेखों को इस आधार पर वापस करने के निर्णय को चुनौती देते हुए दीवानी वाद भी दायर किया था कि वे निविदा की पूर्व-अर्हता शर्तों के अनुरूप नहीं थे। इस प्रकार उसने दीवानी उपाय का सहारा लिया। तथापि, वह उसमें असफल रहा, क्योंकि अपने ही कारणों से उसने उक्त वाद को वापस लेने का निवेदन किया और परिणामतः वह अनुपस्थिति के कारण खारिज कर दिया गया। यह सुविदित है कि एक बार वाद वापस ले लिए जाने पर, सिविल

प्रक्रिया संहिता के आदेश 23 नियम 1 के उपबंध को दृष्टिगत रखते हुए, वह रचनात्मक *पूर्वनिर्णीत* के रूप में कार्य करता है। साथ ही, जब वाद सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 नियम 8 के अधीन खारिज किया जाता है, तब आदेश 9 नियम 9 के अधीन नया वाद वर्जित होता है। इसका विधिक परिणाम यह होगा कि निविदा समिति द्वारा उसकी निविदा पर विचार न किए जाने के निर्णय को चुनौती देने का उत्तरदाता का प्रयास निष्फल रह गया। यहाँ तक कि जब उत्तरदाता ने स्वयं दीवानी वाद में खारिजी का आदेश आमंत्रित किया, तब भी आश्चर्यजनक रूप से उसने दीवानी न्यायालय द्वारा उसके वाद को अनुपस्थिति के कारण खारिज किए जाने के आदेश के विरुद्ध विनिर्दिष्ट आदेश याचिका दायर की, किन्तु उसे भी उच्च न्यायालय द्वारा दिनांक 25.06.2007 को निरस्त कर दिया गया और उस पर रुपये 25,000/- की लागत भी आरोपित की गई, क्योंकि उक्त विनिर्दिष्ट आदेश याचिका को उच्च न्यायालय ने 'न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग' माना। उत्तरदाता द्वारा प्रस्तुत विशेष अनुमति याचिका भी इस न्यायालय द्वारा दिनांक 14.09.2007 को निरस्त कर दी गई। इसके पश्चात ही उत्तरदाता ने वह दांडिक परिवाद दायर किया, जिससे वर्तमान कार्यवाही उत्पन्न हुई है। निस्संदेह, उत्तरदाता को अपने परिवाद में यह अधिकार है कि वह यह आरोप लगाए कि वर्तमान अपीलकर्ताओं ने अभिलेखों की कूटरचना की। तथापि, इस प्रकरण के तथ्यों के आधार पर, उत्तरदाता के इस आरोप को अलग रखना कठिन हो जाता है और हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन आरोपों सहित प्राथमिकी की विषयवस्तु, उत्तरदाता द्वारा विभाग की कार्यवाही के विरुद्ध दायर दीवानी कार्यवाही में पराजित होने के पश्चात जोड़ी गई एक परिशिष्ट मात्र है। जब वह उक्त प्रयास में सफल नहीं हुआ, तब उसने कूटरचना के आरोप प्रस्तुत किए। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरदाता द्वारा दांडिक परिवाद दायर करने की कार्यवाही सद्भावना में नहीं थी और यह विधि की प्रक्रिया का दुरुपयोग एवं अनुचित उपयोग के समान है।

17. *हरियाणा राज्य बनाम भजन लाल*, 1992 परिशिष्ट (1) एस.सी.सी. 335

में, इस न्यायालय ने उन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जिनके आधार पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन न्यायालय दांडिक कार्यवाही को निरस्त कर सकता है। वे निम्नलिखित हैं:

> "102.(1)जहाँ प्राथमिकी या परिवाद में किए गए आरोप, भले ही उन्हें उनके प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर लिया जाए और पूर्णतः सही माना जाए, प्रथम दृष्ट्या कोई अपराध स्थापित नहीं करते हैं अथवा अभियुक्त के विरुद्ध कोई मामला नहीं बनाते हैं।
>
> (2) जहाँ प्राथमिकी तथा उसके साथ संलग्न अन्य सामग्री, यदि कोई हो, किसी संज्ञेय अपराध का उद्घाटन नहीं करती है, जिससे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 156(1) के अधीन पुलिस अधिकारियों द्वारा अनुसंधान को औचित्य प्राप्त हो, सिवाय इसके कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 155(2) के परिधि में दंडाधिकारी के आदेश द्वारा ही ऐसा किया जा सके।
>
> (3) जहाँ प्राथमिकी या परिवाद में किए गए अविवादित आरोप तथा उनके समर्थन में संकलित साक्ष्य किसी भी अपराध के किए जाने का उद्घाटन नहीं करते हैं और अभियुक्त के विरुद्ध कोई मामला स्थापित नहीं करते हैं।
>
> (4) जहाँ प्राथमिकी में किए गए आरोप किसी संज्ञेय अपराध का गठन नहीं करते, बल्कि केवल असंज्ञेय अपराध का गठन करते हैं, वहाँ दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 155(2) के अधीन परिकल्पित दंडाधिकारी के आदेश के बिना पुलिस अधिकारी द्वारा कोई अनुसंधान अनुमन्य नहीं है।

(5) जहाँ प्राथमिकी या परिवाद में किए गए आरोप इतने असंगत एवं स्वभावतः अविश्वसनीय हों कि उनके आधार पर कोई भी विवेकशील व्यक्ति इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता कि अभियुक्त के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए पर्याप्त आधार है।

(6) जहाँ संहिता या संबंधित अधिनियम (जिसके अधीन दांडिक कार्यवाही संस्थापित की गई है) के किसी भी उपबंध में कार्यवाही के संस्थापन एवं उसके निरंतरता पर स्पष्ट विधिक प्रतिबंध निहित हो और/अथवा जहाँ संहिता या संबंधित अधिनियम में पीड़ित पक्ष की शिकायत के निवारण हेतु प्रभावी उपाय का विशेष उपबंध विद्यमान हो।

(7) जहाँ दांडिक कार्यवाही स्पष्टतः दुर्भावना से प्रेरित हो और/या जहाँ कार्यवाही दुर्भावनापूर्वक इस उद्देश्य से संस्थापित की गई हो कि अभियुक्त से प्रतिशोध लिया जाए तथा निजी और व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण उसे क्षति पहुँचाई जाए।

सिद्धांत संख्या 6 तथा 7 वर्तमान मामले में स्पष्टतः लागू होते हैं।

18. उपर्युक्त वर्णित एवं स्पष्ट की गई परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए, हम भी इस मत के हैं कि उत्तरदाता द्वारा एक दीवानी प्रकृति के मामले को दांडिक अभियोजन में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है। ऐसे प्रकरण में, उच्च न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते हुए कार्यवाही को निरस्त करना न्यायसंगत होता। इस संदर्भ में, *इंडियन ऑयल कॉर्पोरेशन बनाम एनईपीसी इंडिया लिमिटेड एवं अन्य,* (2006) 6 एस.सी.सी. 736 के निर्णय का उल्लेख करना उपयोगी

होगा, जिसमें न्यायालय ने इस प्रवृत्ति पर प्रतिकूल टिप्पणी की थी कि वाणिज्यिक लेन-देन से संबंधित मामलों में भी, जहाँ दीवानी उपाय उपलब्ध है या उसका उपयोग किया जा चुका है, दांडिक परिवाद दायर किए जाते हैं। न्यायालय ने इस संबंध में निम्नलिखित अभिलक्षणों को अभिलिखित किया:

> "13. इस विषय पर विचार करते हुए यह उल्लेख करना आवश्यक है कि व्यावसायिक क्षेत्रों में एक बढ़ती प्रवृत्ति दिखाई दे रही है, जिसमें पूर्णतः दीवानी विवादों को दांडिक मामलों में परिवर्तित किया जा रहा है। यह स्पष्टतः इस प्रचलित धारणा के कारण है कि दीवानी विधि के उपाय समय-साध्य होते हैं और ऋणदाताओं/लेनदारों के हितों की पर्याप्त रूप से रक्षा नहीं करते। ऐसी प्रवृत्ति कई पारिवारिक विवादों में भी देखी जाती है, जिससे वैवाहिक/पारिवारिक संबंधों का अपरिवर्तनीय विघटन होता है। यह भी एक धारणा है कि यदि किसी व्यक्ति को किसी प्रकार दांडिक अभियोजन में उलझा दिया जाए, तो शीघ्र समझौते की संभावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसे किसी भी प्रयास को, जिसमें ऐसे दीवानी विवादों एवं दावों का निपटारा, जिनमें कोई दांडिक अपराध निहित नहीं है, दांडिक अभियोजन के माध्यम से दबाव डालकर किया जाता है, निंदित तथा हतोत्साहित किया जाना चाहिए। *जी. सागर सूरी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य,* (2000) 2 एस.सी.सी. 636 में, इस न्यायालय ने यह अभिलिखित किया: (एस.सी.सी. पृष्ठ 643, कंडिका 8)"
>
> "यह देखा जाना आवश्यक है कि क्या कोई ऐसा मामला, जो मूलतः दीवानी प्रकृति का है, उसे दांडिक अपराध का आवरण प्रदान किया गया है। दांडिक कार्यवाही विधि में उपलब्ध अन्य उपायों का कोई संक्षिप्त मार्ग नहीं है। प्रक्रिया जारी करने से पूर्व दांडिक न्यायालय को अत्यंत सावधानी बरतनी चाहिए। अभियुक्त के लिए यह एक गंभीर विषय होता है। इस न्यायालय ने ऐसे सिद्धांत

प्रतिपादित किए हैं, जिनके आधार पर उच्च न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करना होता है। इस धारा के अधीन क्षेत्राधिकार का प्रयोग किसी भी न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने के लिए अथवा अन्यथा न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए किया जाना चाहिए।"

14. "यद्यपि किसी भी वैध कारण या शिकायत वाले व्यक्ति को दांडिक विधि में उपलब्ध उपायों की मांग करने से रोका नहीं जाना चाहिए, तथापि जो परिवादी यह जानते हुए भी कि दांडिक कार्यवाही अनावश्यक है और उसका उपाय केवल दीवानी विधि में निहित है, अभियोजन प्रारंभ करता है या उसे जारी रखता है, उसे ऐसी भ्रांतिपूर्ण दांडिक कार्यवाही के अंत में विधि के अनुसार उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। अनावश्यक अभियोजन तथा निर्दोष पक्षकारों के उत्पीड़न को नियंत्रित करने हेतु न्यायालयों द्वारा उठाया जा सकने वाला एक सकारात्मक कदम यह है कि वे दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 250 के अधीन अपनी शक्ति का अधिकाधिक प्रयोग करें, जहाँ उन्हें परिवादी की ओर से दुर्भावना, तुच्छता या अप्रकट उद्देश्य का बोध हो। तथापि।"

19. *इन्दर मोहन गोस्वामी एवं अन्य बनाम उत्तरांचल राज्य एवं अन्य,* (2007) 12 एस.सी.सी. 1 में, न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय की शक्तियों के क्षेत्र एवं परिधि को निम्नलिखित शब्दों में पुनः अभिव्यक्त किया:

"23. इस न्यायालय ने अनेक प्रकरणों में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन न्यायालयों की शक्तियों के क्षेत्र एवं परिधि का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक उच्च न्यायालय के पास न्याय के हित में, वास्तविक एवं सारभूत न्याय करने के लिए, जिसके प्रशासन हेतु ही उसका अस्तित्व है,

अथवा न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने के लिए, न्याय के ऋण के रूप में अंतर्निहित शक्ति होती है। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है:

(क) संहिता के अधीन किसी आदेश को प्रभावी करने के लिए;

(ख) न्यायालय की प्रक्रिया के दुरुपयोग को रोकने के लिए; तथा

(ग) अन्यथा न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए।

24. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित शक्तियाँ यद्यपि व्यापक हैं, तथापि उनका प्रयोग विरल, सावधानीपूर्वक और अत्यंत सतर्कता के साथ ही किया जाना चाहिए और केवल तभी किया जाना चाहिए जब ऐसा प्रयोग इसी धारा में विनिर्दिष्ट परीक्षणों द्वारा न्यायोचित हो। न्यायालय का अधिकार न्याय की उन्नति के लिए अस्तित्व में है। यदि किसी ऐसी प्रक्रिया के दुरुपयोग का संज्ञान न्यायालय के समक्ष लाया जाता है, जो अन्याय की ओर ले जाती है, तो न्यायालय विधि में किसी विशिष्ट उपबंध के अभाव में भी अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग कर अन्याय को रोकने के लिए न्यायोचित रूप से हस्तक्षेप कर सकता है।

निर्णीत प्रकरणों का विवेचन

25. उल्लिखित प्रकरणों के संदर्भ से यह स्पष्ट होता है कि न्यायालयों ने निरंतर यह मत अपनाया है कि उन्हें इस असाधारण शक्ति का प्रयोग अन्याय को रोकने तथा न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए करना चाहिए। अंग्रेजी न्यायालयों ने भी इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग किया है। सामान्यतः यह स्वीकार किया गया है कि क्राउन न्यायालय के पास अपनी प्रक्रिया को दुरुपयोग से संरक्षित करने

की अंतर्निहित शक्ति होती है। *कॉनेली बनाम लोक अभियोजन निदेशक*, 1964 ए.सी. 1254 में लॉर्ड डेव्लिन ने अभिव्यक्त किया कि जहाँ कोई दांडिक कार्यवाही न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग करती है, वहाँ न्यायालय को यह अधिकार है कि वह अभियोग को विचारण हेतु आगे बढ़ने से इंकार कर दे। *लोक अभियोजन निदेशक बनाम हम्फ्रीस*, 1977 ए.सी. 1 में लॉर्ड सैल्मन ने इस अंतर्निहित शक्ति के महत्व पर बल देते हुए यह अभिलिखित किया कि केवल तभी जब अभियोजन न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग हो तथा उत्पीड़क और कष्टदायक हो, न्यायाधीश के पास हस्तक्षेप करने की शक्ति होती है। उन्होंने आगे यह भी उल्लेख किया कि ऐसे दुरुपयोग को रोकने के लिए न्यायालय की शक्ति अत्यंत संवैधानिक महत्व की है और उसका सावधानीपूर्वक संरक्षण किया जाना चाहिए।

46. न्यायालय को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि दांडिक अभियोजन का उपयोग उत्पीड़न के साधन के रूप में या निजी प्रतिशोध साधने के लिए अथवा अभियुक्त पर दबाव डालने के किसी अप्रकट उद्देश्य से न किया जाए। उपर्युक्त प्रकरणों के विश्लेषण से हम इस मत के हैं कि ऐसा कोई कठोर नियम निर्धारित करना न तो संभव है और न ही वांछनीय, जो अंतर्निहित क्षेत्राधिकार के प्रयोग का संचालन करे। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालयों का अंतर्निहित क्षेत्राधिकार यद्यपि व्यापक है, तथापि उसका प्रयोग विरल, सावधानीपूर्वक तथा सतर्कता के साथ ही किया जाना चाहिए और केवल तभी किया जाना चाहिए जब वह विधि में तथा उपर्युक्त प्रकरणों में विनिर्दिष्ट परीक्षणों द्वारा न्यायोचित ठहराया जाए। स्थापित विधिक स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए, विवादित निर्णय को बनाए नहीं रखा

जा सकता।"

20. फलस्वरूप, ये अपीलें स्वीकार की जाती हैं। उच्च न्यायालय का आदेश निरस्त किया जाता है। परिणामतः, विद्वान दंडाधिकारी द्वारा लिया गया संज्ञान तथा अपीलकर्ताओं को अभियुक्त के रूप में समन करने के आदेश निरस्त किए जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उक्त परिवाद निरस्त हो जाता है। तथापि, व्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं होगा।

देविका गुजराल अपीलें स्वीकार की गईं।

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता । समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।